अध्याय 6

भारत में राष्ट्रवाद का उदय
(Early Indian Nationalism)

भारत में राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि

अखिल भारतीय कांग्रेस का जन्म 28 दिसंबर, 1885 ई. को हुआ। लेकिन यह यकायक एक अकस्मात घटना के रूप में नहीं हो गया। राजनीतिक जागृति जो 1860 और 1870 में आना शुरू हुई थी, वह 1880 तक आते-आते बहुत परिपक्व हो चुकी थी। भारत में उपनिवेशवाद की प्राकृति और उसका स्वभाव ही इसके लिए मुख्य रूप से ज़िम्मेदार हैं।

उस समय भारत को एक राष्ट्र के रूप में अपनी पहचान बनानी थी। राष्ट्र केवल भौगोलिक परिभाषा के रूप में जाना जाता था। भारत में व्यावहारिक में इस तरह की कोई जागृति नहीं पायी जाती थी। जैसे 19वीं शताब्दी में यूरोपीय देशों में पायी जाती थी। भारत में लोग अपनी नस्ल,जाति, क्षेत्र या धर्म के नाम से पहचाने जाते थे। बंगाली, मराठी, पंजाबी, तमिल, या हिंदु, मुसलमान या ब्राह्मण या ठाकुर आदि के नाम से पुकारे जाते थे। अभी उन्हें इसका एहसास नहीं था कि वे सबसे पहले भारतीय हैं। लेकिन 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में अनेक बदलाव देखने को मिले। इनमें अधिकांश बदलाव भारतीय राष्ट्रवाद के उदय का कारण बने। यही बदलाव भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठिभूमि का आधार बना।

निम्नलिखित बातें हमें इस पूरे घटनाक्रम को समझने में सहायक सिद्ध होंगी:

1. ब्रिटिश शासन का आर्थिक प्रभाव

ब्रिटिश सरकार ने भारत में पूंजी व्यवस्था को अपनाया जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था केंद्रित होती चली गयी। उपनिवेशवादी शासन व्यवस्था में गांव की संप्रभुता को छिन्न-भिन्न कर दिया और कृषि एवं हस्तकला के बीच सामन्जस्य स्थापित किया। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी जो शुरू में ब्रिटिश व्यवस्था के प्रशंसक थे, उन्हें धीरे-धीरे ब्रिटिश शासन की योजनाएं समझ में आने लगीं। शिक्षित एवं जागृत लोगों ने जब देखा कि उद्योग धंधों में विकास होने की जगह वे बंद होने जा रहे हैं और सम्पन्नता के स्थान पर गरीबी बढ़ती जा रही है, तो वे गंभीरतापूर्वक सोचने पर मजबूर हो गये। जल्द ही उन्हें समझ में आने लगा कि अंग्रेज किस चतुराई एवं योजनाबद्ध तरीक़े से देश के संसाधनों को लूट रहे हैं। उनकी अकूत धन संपत्तियों पर क़ब्ज़ा कर रहे हैं।

राष्ट्रवादी नेताओं को यह समझते देर न लगी कि इंग्लैंड क्यों इतना विकसित होता जा रहा है और भारत ब्रिटिश राज में क्यों इतना पतन की ओर बढ़ रहा है। प्रारंभिक राष्ट्रवादी नेताओं जैसे दादा भाई नौरोजी, आर. सी. दत्ता, गोविन्द रनाडे और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी आदि को यह विश्वास हो गया कि भारत की गरीबी उसका आर्थिक पिछड़ापन और विकास से उसकी विमुखता की मुख्य वजह भारत में ब्रिटिश शासन का होना है।

मध्यम वर्ग ने भी यह सोचना प्रारंभ कर दिया कि भारत के अर्थिक विकास में सबसे बड़ा रोड़ा ब्रिटिश राज ही है। यहां तक कि कानून व्यवस्था, जिसे बनाये रखने में ब्रिटिश शासन की महती भूमिका थी, भी शोषण के एक रूप में देखा जाने लगा। दादा भाई नौरोजी जिन्हें भारत का महापुरुष समझा जाता है। बिल्कुल सही कहा था : 'ब्रिटिश राज में एक आदमी शांति से रहता है, यहां कोई हिंसा नहीं होती, उनके संसाधनों की लूट जारी है, खामोशी और अनदेखे अंदाज़ में —वह शांति के साथ भूखा मरता है और शांति और कानून व्यवस्था की प्रशंसा करता हैं।'

2. सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलन

19वीं शताब्दी में भारत में अनेक सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन प्रारंभ हुये। यह आंदोलन हिंदुओं, मुसलमानों, पारसियों और अन्य धार्मिक इकाईयों में देखे गये। अनेक आंदोलन जैसे—ब्रह्म समाज और आर्य समाज आदि ने क्षेत्रीय सीमाओं के बाहर भी लोगों को प्रभावित किया। बंगाल, पंजाब, बंबई और मद्रास के हिंदु आपस में मिलने लगे और अपने आचार-विचार का आदान-प्रदान करने लगे। वे वर्तमान समस्याओं और भारत के भविष्य के सिलसिले में विचार-विमर्श करने लगे। इससे समाज में एक सांस्कृतिक जागृति आयी। समानता के भाव ने जन्म लिया। भारत के राष्ट्रवाद में इस सांस्कृतिक जागृति की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। देश के प्रति वफ़ादारी की भावना और अपनी मातृ भूमि के लिए प्यार आदि उसी दौर में परवान चढ़े।

3. पश्चिमी शिक्षा, प्रशासन, न्यायपालिका और परिवहन के आधुनिक साधन

पश्चिम शिक्षा व्यवस्था के अनेक सकारात्मक पहलू भी हैं। मानवता, संप्रभुता, समानता, भाईचारा और राष्ट्रीयता जैसे तार्किक विचार इसी शिक्षा की देन हैं। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् एक भारतीय बेंथेम, मिल्टन, रोसियो, कांत, थोमस पाएने, स्टूआर्ट मिल, वोल्टायरे और मज़्जीनी आदि के विचारों से अवगत हो गया। इस तरह पश्चिमी शिक्षा से बुद्धिजीवियों का एक नया वर्ग सृजित हुआ जो इतिहास की दृष्टि में 1857 के स्वतंत्रा संग्राम के समय के नेतृत्व से अधिक प्रगतिशील था।

यद्यपि से आधुनिक एवं शिक्षित लोग थे, जिन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना की लेकिन कुछ रूढ़िवादी भारतीय भी इस दल में शामिल हो गये। क्योंकि अधिकांश लोग अंग्रेजों और ब्रिटिश राज से घृणा करते थे। दारुल उलूम, देवबंद के आलिम इसकी एक अच्छी मिसाल हैं। अंग्रेज अपने साम्राज्यवादी हितों के लिए आधुनिक प्रशासनिक व्यवस्था, न्यायिक व्यवस्था और परिवहन के आधुनिक साधनों को लागू किया। लेकिन इसी व्यवस्था के कारण विभिन्न क्षेत्रों, जातियों, वर्गों और नस्लों के लोग एक-दूसरे के क़रीब आए। इसी दौर में लोगों ने अपने आपको भारतीय होने पर गर्व करना शुरू किया।

4. प्रेस और साहित्य

मीडिया और साहित्य ने लोगों में देश के प्रति वफ़ादारी की भावना को जगाया और उनमें राष्ट्रीयता की भावना ने जन्म लिया। समाचार पत्र, जैसे—द हिंदु, द ट्रीब्यून, बंगाली, मराठा, केसरी, और अमृत बाज़ार पत्रिका, और लेखक जैसे बंकिम चन्द चटर्जी (बंगाली) विष्णु शास्त्री, चिपलंकर (मराठी), भारतेन्दु हरीश चन्द्र (हिंदी), अल्ताफ़ हुसैन हाली और शिबली नुमानी (उर्दू) और लक्ष्मी दास बेजबरुआ

(आसामी) ने मानवता, स्वतंत्रता, समानता, भाईचारा और देश के प्रति वफ़ादारी की भावना को उभारा। बंकिम चन्द्र द्वारा 1882 ई. में लिखी गयी ''आनन्द मठ'' और उसमें लिखा गया एक गाना, बन्दे मातरम ने लाखों लोगों को भारत की आज़ादी के लिए प्रेरित किया।

राष्ट्रीय संस्थाओं का गठन

ब्रिटिश शासकों और उससे पहले के शासकों के बीच एक प्रमुख अंतर यह भी था कि ब्रिटिश शासक भारतीय नागरिकों को जोड़कर रखने में विफल रहे। हालांकि यह कहना कठिन है कि उन्होंने ऐसा जान-बूझ कर किया था वे ऐसा नहीं कर सके। मुगलों और तुर्कों के विपरीत अंग्रेज़ हमेशा अकेले ही रहे। वे अपने को अंतिम समझते रहे और इसी समझ ने उन्हें भारतीयों को समान समझने नहीं दिया। उस समय तक भारतीय राजनीतिक दृष्टि से संगठित नहीं थे। उन्हें राष्ट्रीय एकता की समझ नहीं थी। इसीलिए अंग्रेजों ने उन पर राज करने में सफलता पायी। जिस दिन से भारतीय संगठित होने, उन्हें आये दिन अंग्रेजों से समस्याएं खड़ी होने लगी।

यद्यपि 1857 के स्वतंत्रता संग्राम का विफल हो जाना भारतीयों के लिए एक बहुत बड़ा धक्का था। मध्यम वर्ग के पढ़े-लिखे लोग जो वर्ग के हित और राष्ट्रीय हित दोनों से अवगत थे, ने विभिन्न राजनितिक संगठनों का गठन किया। 1860, 1870 और 1880 के दशक में अनेक राजनिति संगठनों के गठन हुए। इन्हीं संगठनों एवं सस्थाओं ने मिलकर 1885 ई. में अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना थी।

उन शुरुआती संस्थाओं में से एक राजा राममोहन राय और उनके उदारवादी समथर्कों द्वारा 1828 में कलकत्ता में स्थापित 'एकेडमिक एसोसिएशन' भी थी। यह एसोसियशन धार्मिक, नेतिक और सामाजिक मुद्दों के साथ-साथ राजनितिक मुद्दों पर भी विचार-विमर्श करना शुरू किया। उन्होंने 1838 में एक सोसायटी बनायी जो न्याय व्यवस्था, प्रेस की आज़ादी, और बेकारी प्रथा आदि पर भी सोच विचार शुरू किया। 1838 में जमींदारी एसोसिएशन का भी गठन हुआ जिसे भारत की पहली राजनीतिक एसोसिएशन होने का श्रेय दिया जाता है। इस एसोसिएशन का मुख्य उद्देश्य जमींदारों के अधिकारों की कानूनी तौर पर रक्षा करना था।

1851 में ब्रिटिश इंडिया एसोसियशन बनी। यह बड़े-बड़े किसानों और मध्यम वर्गीय नागरिकों पर आधारित थी। इसके संस्थापक अध्यक्ष राधाकांत देव थे और संस्थापक सचिव देवेन्द्र नाथ टैगोर थे। वे क्षेत्रीय प्रशासन और सरकारी व्यवस्था में सुधार लाना चाहते थे। उन्होंने संसदीय इक्वीटी कमेटी के सामने एक लिखित प्रस्ताव पेश किया, जिसमें पहली बार यह मांग की गयी कि भारतीय नागरिकों को अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मिलना चाहिए।

कुछ प्रसिद्ध राष्ट्रवादी नेता जैसे—दादा भाई नैरोजी, फरदुंजी, जगन्नाथ शंकर सेठ और भाऊ दाजी आदि ने अगस्त, 1852 में बंबई एसोसिएशन की स्थापना की। इस एसोसिएशन का उद्देश्य लोगों की भलाई के लिए अधिकारियों को आवश्यक सुझाव पेश करना था। 1853 में इसी एसोसिएशन ने संसद से मांग की कि लेजिसलेटिव कौंसिल का पुर्नगठन हो, उच्च सरकारी सेवाओं में भारतीयों को जगह मिले, और विश्वविद्यालयों की स्थापना की जाए। लोखितवादी गोपाल हरि देशमुख ने, जो एक समाज सुधारक थे, ने भारत के पार्लियमेंट के समक्ष यह बात रखी कि संसद में देश के सभी नगरों एवं जिलों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

कुछ युवा नेता इन पुराने एसोसियशन से संतुष्ट नहीं थे क्योंकि इन में से अधिकांश किसी वर्ग विशेष के हितों की रक्षा करते थे। वे राष्ट्रीय हितों की रक्षा नहीं कर पा रहे थे। युवा नेता जैसे सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, और आनन्द मोहन बोस ने इंडियन एसोसियशन की स्थापना की। 1885 ई. में बदरुद्दीन तय्यब जी, फ़िरोज़ शाह मेहता और के.टी. तेलंग ने बंबई में बॉम्बे प्रेसिडेंसी एसोसियशन की स्थापना की, जबकि 1884 में आनन्द चार्लू, सुब्रामन्यम अय्यर ने मद्रास महाजन सभा का गठन किया।

ये राजनीतिक संस्थाएं यद्यपि देश के विभिन्न भागों में स्थापित हुई थीं लेकिन उनके उद्देश्य समान थे। वर्ग विशेष के हितों के साथ-साथ वे अपने राष्टीय अधिकारों से अवगत थे। उनकी कुछ समान मांगे ये थीं :

1. सीविल सेवा का भारतीयकरण।
2. कपास के टैरिफ़ लॉ (Tarnf Law) का विरोध।
3. लिटन की अफ़गान नीति का विरोध।
4. 1878 के शस्त्र कानून का विरोध।
5. 1878 के वर्नाकुलर प्रेस एक्ट का विरोध।
6. 1883 के इलबर्ट बिल का समर्थन।

ये सभी राष्ट्रीय मुद्दे पढ़े-लिखे राष्ट्रवादियों को एक साझे मंच पर लाने में सफल रहे और अन्ततः इन्हीं मुद्दों पर अखिल भारतीय कांग्रेस का गठन हुआ।

अखिल भारतीय कांग्रेस के पहले की राजनीतिक संस्थाएं

1. द ज़मींदारी एसोसिएशन (लैंड होल्डर्स सोसायटी)-1838; कलकत्ता में बनी इस एसोसियशन ने पहली बार संगठित रूप से राजनीतिक प्रक्रिया की शुरुआत की और इसके लिए संवैधानिक संघर्ष का मार्ग अपनाया।
2. द बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसायटी, 1843—इसका उद्देश्य ब्रिटिश इंडिया के लोगों के बारे में वास्तविक जानकारी हासिल करने की व्यवस्था बनाना था।
3. द ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन, 1851—यह उपरोक्त दोनों संस्थानों का मिला-जुला स्वरूप था।
4. द ईस्ट इंडिया एसोसियेशन, 1866—दादा भाई नौरोजी ने इसकी स्थापना लंदन में की थी।
5. द इंडिया लीग, 1875—शिशिर कुमारी घोष ने इसकी स्थापना की थी।
6. द इंडियन एसोसिएशन ऑफ कलकत्ता, 1876—सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और आनन्द मोहन बोस ने इसकी स्थापना की।
7. द पूना सार्वजनिक सभा, 1867—महादेव गोविन्द रनाडे द्वारा स्थापित।
8. द बंबई प्रेसिडेंसी एसोसिशन, 1885—बदरुद्दीन तैयबजी, फ़िरोज़ शाह मेहता और के.टी. तेलंग द्वारा स्थापित।
9. द मद्रास महाजन सभा, 1884—एम. वीराराघवचारी, बी सुब्रामन्यम अय्यर और पी. आनन्द चार्लू।

प्रारंभिक राष्ट्रवादी चरण में कृषक एवं जनजातीय विद्रोह

1. कृषक विद्रोह

हम देख चुके हैं कि उपनिवेशवादी राज में भारत में कृषि उत्पाद पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। जमींदारी व्यवस्था में खेतिहर मजदूरों को ज़मीदारों की दया पर छोड़ दिया गया। जमींदारों ने उनसे भारी कर वसूल किया और उन्हें अनुचित ढंग से भुगतान करने पर मजबूर किया। रैयतवारी व्यवस्था ने

सरकार ने स्वयं ही भारी राजस्व वसूल करना शुरू किया। इस तरह खेतिहर मज़दूर महाजनों से रुपये कर्ज़ लेने को मजबूर हो गये। इसका परिणाम यह हुआ कि जो लोग पहले खेतों के मालिक थे, वे या तो अपने ही खेत को बराई करने लगे या फिर मजबूरी में खेतिहर मज़दूर बन गये। जमीनों के मालिक, महाजन, अमीर किसान और व्यापारी के तो मज़े ही मज़े थे जबकि मज़दूरों, उनके खेतों और उनके मवेशियों की स्थिति दयनीय होती गयी।

मज़दूरों की ओर से उनके खिलाफ़ संघर्ष स्वभाविक भी था और उचित भी क्योंकि उनका हर तरह से शोषण हो रहा था। उन्होंने उन लोगों को सबसे पहले निशाना बनाना शुरू किया जो प्रत्यक्ष रूप से उनका शोषण कर रहे थे। यानी उनके आक्रोश का निशाना सबसे पहले जमींदार और महाजन बने। कैथलीन गौफ (Kathleen Gough) ने मज़दूरों के द्वारा किये जाने वाले 77 संघर्षों का उल्लेख किया है। उन्होंने इन संघर्षों को पांच समूहों में बांटा है:

1. बलवर्धक
2. धार्मिक
3. सामाजिक
4. प्रतिशोधात्मक
5. सशस्त्र आंदोलन

हालांकि 1857 के संघर्ष के पश्चात् मज़दूरों को पूरी तरह से काबू में कर लिया गया। इसके कारण ये थे:

1. राजकुमारों एवं जमींदारों से ब्रिटिश सरकार के संबंध काफी मज़बूत हो गये।
2. सेना और नागरिक प्रशासन के मध्य सूचना के आदन-प्रदान की प्रक्रिया शुरू हो गयी और सेना को पुर्नगठित किया गया।

1850 के बाद खेतिहर मज़दूरों का संघर्ष एक नये दौर पर प्रवेश कर गया क्योंकि पूरे समाज में शोषण के विरुद्ध एक विशेष प्रकार की बेचेनी महसूस की जाने लगी। इस संघर्ष का विस्तार से अध्ययन करने के पश्चात् हम कुछ निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं।

नील विद्रोह (Indigo Revolt)

1859-60 का नील विद्रोह जो बंगाल के पूर्वी इलाक़े में हुआ था, मजदूरों के एक बड़े और महत्वपूर्ण विद्रोह के रूप में देखा जाता है। वे किसान जो नील की खेती करते थे, या जिन्हें नील की खेती करने पर मजबूर किया जाता था, उन्हें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता था। ये समस्यायें इस प्रकार थीं:

1. नील के उत्पादक जो अधिकांशत: यूरोपीय व्यापारी थे, वे उन किसानों को नील की खेती के लिए मजबूर करते थे और उन्हें बहुत ही छोटी सी राशि का भुगतान करते थे।
2. नील का जो मूल्य किसानों को दिया जाता था वह हमेशा बाज़ार दर से कम होता था।
3. किसानों को विवश किया जाता था कि वे अपनी अधिकांश खेती योग्य ज़मीन पर नील की खेती करें।
4. नील उत्पादक (Planter) हमेशा किसानों के साथ धोखाधड़ी करते थे, उन्हें एक छोटी सी रक़म अग्रिम राशि के रूप में दे देते थे और शेष राशि का या तो भुगतान ही नहीं करते थे और यदि करते भी थे तो आधे-अधूरे रूप में। पूरा भुगतान कभी भी नहीं हो पाता था।
5. किसानों को अपनी खाता-बही रखने की अनुमति नहीं थी।
6. बागान मालिक कुछ लठैतों को पालते थे। जो किसानों को मारता पीटता था, उनका अपहरण करता था, उनकी महिलाओं और बच्चों को तंग करता था, लूट-मार करता था, घरों को गिरा दिया करता था और खेतों की फसल को तहस-नहस कर दिया करता था।

विद्रोह बंगाल के नाडिया जिले के गोविन्दपुर गांव से शुरू हुआ। दीगांबर बिस्वास और विष्णु बिस्वास के नेतृत्व में 1859 में किसानों ने नील की खेती करने से इंकार कर दिया। जब बागान मालिक ने किसानों के पास अपने लठैत को भेजा तो किसानों ने, जिन में मर्द और औरत दोनों शामिल थे उन लठैतों का मुक़ाबला किया और उन्हें भगाने में सफल रहे। इस अवसर पर किसानों ने भालों, बर्छियों, लाठियों, तीरों, ईंटों और पत्थरों से उन लठैतों का मुक़ाबला किया।

शीघ्र ही यह विद्रोह अन्य शहरों में भी फैल गया। नील की फैक्ट्रियां, जहां नील से रंग बनाया जाता था, पर हमले किये गये। जब पुलिस ने किसानों को रोकना चाहा तो वे पुलिस से भी टकरा गये। जब जमींदारों ने किसानों को जमीन से बेदखल करने की धमकी दी तो वे हड़ताल पर उतारु हो गये। उन्होंने बागान मालिकों की सभी कानूनी कार्रवाइयों को नकार दिया और कर अदा करने से मना कर दिया। बागान मालिकों का सामाजिक बहिष्कार भी किया गया।

किसानों ने अपने आपको बहुत संगठित किया। और बहुत ही अनुशासन और आपसी सहयोग का परिचय दिया। हिंदु-मुस्लिम एकता ने इस विद्रोह को और भी प्रभावशाली बना दिया। हालांकि इस पूरे विद्रोह का नेतृत्व खाते-पीते किसानों, छोटे-मोटे जमींदारों, और बागान मालिकों के पूर्व-कर्मचारियों के हाथों में था लेकिन शहर के बुद्धिजीवी वर्गों का समर्थन भी उन्हें प्राप्त था। दीन बन्धु मित्रा के ''नील दर्पण'' ने भी शोषित किसानों की अवस्था को विस्तार पूर्वक उजागर किया। बुद्धिजीवी वर्ग के समझ में शीघ्र ही यह बात आ गयी कि समस्या की मुख्य वजह क्या है? यही कारण था कि जब राष्ट्रीय आंदोलन शुरू हुआ तो यह मुद्दा भी जोर-शोर से उठा।

अंततः नील आयोग (Indigo Commission) का गठन हुआ, जिसने बलपूर्वक नील की खेती करवाने पर प्रतिबंध लगा दिया। 1860 में जारी की गयी उस नोटिस के अनुसार, किसानों को नील सहित किसी भी चीज़ की खेती, उनकी इच्छा के विपरित, करने पर मजबूर नहीं किया जा सकता। यह भी निश्चित हुआ कि नील उत्पादकों और किसानों के विवादों को कानूनी ढंग से हल किया जायेगा। बागान मालिकों ने जब इन कठिनाइयों को महसूस किया तो बंगाल से वे पलायन करने लगे। उनमें से अधिकांश लोग बिहार स्थानांतरित हो गये।

पाबना विद्रोह

पबना पूर्वी बंगाल (जो अब बांग्लादेश का हिस्सा है) का एक प्रसिद्ध जिला है। मई, 1873 ई. में वहां के किसानों ने जमींदारों के खिलाफ बगावत के स्वर बुलंद किए। पाबना एक सम्पन्न इलाक़ा था। यहां जूट की खेती होती थी और बंगाल काश्तकारी अधिनियम 1859 के तहत वहां के 50 प्रतिशत किसानों को जमीन पर मालिकाना अधिकार मिला हुआ था। लेकिन 1793 से 1872 तक जमींदारी किराया सात गुना बढ़ गया। इसके अलावा जमींदार और भी बहुत कुछ वसूलने लगे। जमींदार इसका भी प्रयत्न करने लगे कि किसानों को मालिकाना अधिकार से वंचित किया जाए। इसके लिए वे लठैतों की सहायता से ज़मीनो पर क़ब्जा करने लगे। लठैत ज़मीनों पर क़ब्जा भी कर लेते, उनकी फसल भी काट ले जाते और मवेशियों को भी हांक कर ले जाते।

पाबना का विद्रोह अन्य किसान विद्रोह से कुछ पहलुओं से भिन्न है। पाबना जिला के यूसुफ़ शाही किसान अपने आप संगठित हुए। फिर उन्होंने दूसरे इलाके के किसानों को रैलियों, और सभाओं के माध्यम से उभारने की कोशिश की और उनसे बगावत की अपील की। गांव वालों को ढोल बजा-बजा कर, भैंसों के सींघ पीट-पीट कर जमा किया जाता और उनसे अपील की जाती। इस तरह यह काफिला हर छोटे बड़े गांव से गुजरा और लोगों को इस मामले में जागृत किया। अब वे कभी-कभी कर को रोकने लगे। उन्होंने जमींदारों को अदालत में चुनौती भी दी। अदालती कार्रवाई में खर्च होने वाली रकम के लिए वे आपस में चंदा भी जमा करते। धीरे-धीरे यह आंदोलन जोर पकड़ने लगा और पूर्वी बंगाल के अन्य जिलों, जैसे—मेमन सिंह, बाडरगंज, फरीदपुर, बोगरा और राजशाही आदि जिलों में

फैल गया। उनकी प्रमुख मांगे ये थीं :

1. नाप-तौल के पैमाने में बदलाव आए।
2. गैर-कानूनी क़ब्ज़ा समाप्त किया जाए।
3. किराये में कमी की जाए।

पाबना को छोड़कर अन्य स्थानों के रैय्यतों को इस आंदोलन के कारण बहुत कुछ सहन करना पड़ा। यह उनके लिए एक नया अनुभव था। इससे उनमें बहुत ज्यादा जागृति आयी। उन्होंने अपने कानूनी अधिकारों को समझना शुरू किया। इसी अवसर पर उन्होंने संगठन बनाना भी सीख लिया। जो आगे चलकर 20वीं शताब्दी में उभर कर सामने आया।

किसानों के बढ़ते दबाव और कानूनी मुक़दमों की भरमार ने सरकार को मजबूर कर दिया और सरकार ने 1885 में बंगाल काश्तकारी अधिनियम पारित कर दिया। इस अधिनियम के पास हो जाने से किसानों को जमींदारों से कुछ राहत और सुरक्षा मिली। राहत मिलने की सबसे बड़ी वजह यह थी कि आंदोलन का अंदाज और किसानों का लक्ष्य बहुत ही प्रभावशाली था। पाबना और आस-पास के जिलों के किसान अपना कानूनी अधिकार मांग रहे थे और मौजूदा कानून में संशोधन की मांग कर रहे थे। निश्चित रूप से उनका संघर्ष न तो व्यवस्था के विरुद्ध था और न ब्रिटिश राज के विरुद्ध था। असल में उन्होंने नारा दिया था कि हम 'महामहिम ताज के ही किसान हैं'। इसीलिए उस आंदोलन के ख़िलाफ़ केवल इंडियन पैनेल कोड (IPC) के तहत दबाव बनाया गया। और जिस तरह अन्य आंदोलनों को दबाया जा रहा था पाबना विद्रोह को उस तरह नहीं दबाया गया।

पाबना के किसानों ने हिंदु-मुस्लिम एकता का परिचय देकर अधिक परिपक्वता का प्रदर्शन किया। हालांकि कुछ जमींदारों ने इसे सांप्रादयिक रंग देने की कोशिश की और यह स्वर बुलंद किया कि मुस्लिम किसानों ने हिंदू जमींदारों के ख़िलाफ बगावत पर उतारु हैं। पाबना विद्रोह पूरी तरह से एक वर्ग संघर्ष था। इशान चौधरी, शंभू पाल, और खूदी मुल्ला आदि पाबना आंदोलन के प्रमुख नेता थे। बंगाल का बुद्धिजीवी वर्ग, जिनमें अधिकांश हिंदू थे, जैसे एस.एन. बनर्जी, आनन्द मोहन बोस, द्वारकानाथ गांगुली ने पाबना में हज़ारों किसानों की सभा को संबोधित किया और कर अधिनियम का साथ दिया। इंडियन एसोसियशन और कुछ राष्ट्रवादी समाचार पत्रों ने मांग की कि रेंट को स्थाई तौर पर निर्धारित कर दिया जाए और खेतों का मालिकाना अधिकार किसानों को दिया जाए।

दकन का दंगा (1875)

सन् 1875 ई. में महाजनों के विरुद्ध पूना और अहमदनगर में बहुत ही बड़ा दंगा भड़क उठा। इस दंगे को दकन का दंगा (Deccan Riots) कहा जाता है क्योंकि इसने दकन का इलाका जो पश्चिमी/मध्य भारत के ऊपरी हिस्से में फैला हुआ था, बुरी तरह प्रभावित किया।

जिस क्षेत्र में रय्यतवारी व्यवस्था लागू थी, वहां किसानों को मालगुज़ारी तथा अन्य टैक्सों की ऊंची दर होने के कारण इस का करना बहुत मुश्किल था। इसीलिए वहां के किसान महाजनों के, जो अधिकार मारवाड़ी या गुजराती थे, के चंगुल में फंस गये। नया कानून पूरी तरह से महाजनों के हक़ में था। ये लोग किसानों की अचल संपत्तियों जैसे खेल खलिहान आदि को अपनी कर्ज़ की वसूली के लिए बेच दिया करते थे। इस तरह सारी ज़मीन किसानों से महाजनों के पास पहुंच गयी थी।

दकन के किसान तुलनात्मक रूप से अधिक सम्पन्न थे। क्योंकि वहां जूट की खेती होती थी और 1861-64 तक चलने वाले अमेरिकी गृहयुद्ध में उन्होंने अच्छा लाभ कमाया था। अमेरिका यूरोपीय बाज़ार में कपास की मांग की भरपाई नहीं कर पाया था जिसका सीधा लाभ दकन के किसानों को मिला था। लेकिन 1864 ई. में ज्यों ही अमेरिका में सीविल वार समाप्त हुई, भारतीय किसानों के कपास निर्यात में कमी आ गयी। इतना ही पर बस नहीं हुआ। सरकार ने जमीन का राजस्व भार लगभग 50 प्रतिशत बढ़ा दिया। प्राकृति ने भी किसानों का साथ नहीं दिया और खेती चौपट हो गयी।

किसानों को महाजनों से पैसे कर्ज़ लेने पड़े। ताकि जमीन का भू-राजस्व अदा कर सकें। इस तरह महाजनों ने एक बार फिर उन किसानों और उनकी जमीनों पर अपनी पकड़ मज़बूत बना ली।

इस आंदोलन की शुरुआत उस समय हुई जबकि काल्मू नाम के एक क्षेत्रीय महाजन ने दिसंबर, 1874 ई. में सिरुर तालुका के करदाह गांव में एक किसान का मकान ढहा दिया। किसानों ने इस घटना से प्रभावित होकर महाजनों और बाहर वालों का बहिष्कार शुरू कर दिया। उन्होंने महाजनों के ज़मीन को जोतने से इंकार कर दिया। अन्य मज़दूरों और दूसरे पेशे में लगे लोगों, जैसे—बढ़ई, धोबी, हज़ाम लोहार और मोची आदि ने भी इस आंदोलन में साथ दिया। वे लोग जो महाजनों की मदद किया करते थे, उन्होंने भी उनका बहिष्कार शुरू कर दिया। यह सामाजिक बहिष्कार जल्द-ही पूना, अहमदनगर, शोलापुर और सतारा ज़िले तक फैल गया।

जब बहिष्कार का भी कोई विशेष परिणाम न निकला तो किसानों ने अपने संघर्ष के तरीक़े में कुछ बदलाव का फैसला किया। मध्य मई, 1875 में वे भीमपुरी तालुक़ के सूपा नामक स्थान पर महाजनों की दुकानों और मकानों पर टुट पड़े। उन्होंने ज़मीन के खातों और अन्य कागजों को उनसे छीन लिया और सार्वजनिक स्थानों पर ले जाकर उन्हें जला डाला। यह दंगा जल्द ही पूना और अहमनगर के अन्य गांवों में भी फैल गया। सूपा में तो यह दंगा हिंसक हो उठा लेकिन अन्य स्थानों पर यह केवल खातों और बाड़ों को जलाने तक ही सीमित रहा। क्योंकि उन्हें ऐसा आभास होता था कि ये खतिहान ही उनके शोषण की मुख्य वजह हैं।

यह आंदोलन लगभग दो महीनों तक चला। हालांकि प्रारंभ में जैसा उत्साह था वैसा आंदोलन के अंतिम दिनों तक क़ायम नहीं रह सका। यह पूरा आंदोलन महाजनों के विरुद्ध था लेकिन इसे किसी भी दृष्टि से अंग्रेजों के विरुद्ध नहीं कहा जा सकता था। कुछ दृष्टिकोण से तो यह ब्रिटिश सरकार के हित में ही जाता था। इसलिए सरकार ने इस आंदोलन को गंभीरता से लिया। किसानों की समस्याओं को समझा और 1879 ई. में दकन कृषि राहत अधिनियम (Deccan Agriculturalist Relief Act-1879) पारित हुआ। इस अधिनियम से उन्हें कुछ राहत मिली और जमीन के स्थानान्तरण को नियंत्रित किया गया। स्थानांतरण पर रोक फिर भी नहीं लग सकी।

मोपला विद्रोह

19वीं शताब्दी के दूसरे अर्द्धशतक में केरल के मालाबार क्षेत्र में मोपालाओं ने कई विद्रोह किये। यह बगावत जमींदारों और विदेशी शासकों के विरुद्ध बढ़ते असंतोष के कारण फैला था। खेतिहर मज़दूरों को जिन्हें मोपलाह कहते हैं, में ज़्यादातर मुसलमान थे। जमींदार जिन्हें क्षेत्रीय भाषा में 'जेनमी' कहते हैं, हिंदु थे। शुरू में यह वर्ग संघर्ष के रूप में शुरू हुआ लेकिन बाद में उसने साम्प्रदायिक रूप ले लिया। ज़मींदारों में अधिकांश जगहों पर इस आंदोलन को दबाने की कोशिश की और कहीं-कहीं उन्होंने बागियों के शरीर को दाग दिया। 1882 और 1885 के बीच इन दोनों समूहों के बीच संघर्ष और तेज़ हो गया। मोपला ने ज़मींदारों के घरों और सम्पत्तियों को लूटना शुरू कर दिया। वे उनके घरों में आग भी लगाने लगे।

'मोपला' और 'जेनमी' दोनों ही समूह अपने पक्ष में लोगों को तैयार करने के उद्देश्य से अपने धर्मों का हवाला देने लगे। इस दगें में मंदिरों और धार्मिक स्थानों को भी निशाना बनाया गया। बहुत से मोपलाओं ने उस समय आत्महत्याएं भी कर लीं, जब उन्हें पुलिस ने चारों ओर से घेर लिया। उन्हें अपनी जान त्यागते समय यह पूरा विश्वास था कि इस तरह वे शहीद हो रहे हैं और अल्लाह के यहां उन्हें इसका अच्छा बदला मिलेगा और क़ियामत के दिन उनसे पूछ-ताछ नहीं होगी।

जान देने वालों में लगभग सभी गरीब मजदूर थे हालांकि उन्हें मुस्लिम जमींदारों एवं व्यापारियों की सहानुभूति प्राप्त थी।

2. जनजातीय विद्रोह

जनजातियों को सबसे निचली हैसियत हासिल थी। वे समाज का सबसे निचला वर्ग समझे जाते थे। वे खेतों में मजदूरी करते थे। या सामान ढोते थे, या कल-कारखानों में कुलियों और मालियों का काम करते थे। उपनिवेशवादी राज से जनजातीय क्षेत्र भी बड़े पैमाने पर प्रभावित हुए। जनजातियों के क्षेत्र में बाहरी लोगों का दखल शुरू हो गया। वे या तो महाजन थे, या व्यापारी थे, या जमीनों और जगलों के ठेकेदार थे।

ब्रिटिश राज में पूरी निजी सम्पत्ति का चलन आम हुआ जिसने संयुक्त रूप से मालिकाना अधिकार की परंपरा का बहुत नुकसान पहुंचाया, जैसे ''खूंट कट्टी'' का रिवाज छोटा नागपुर में था। ब्रिटिश राज में जंगली क्षेत्रों पर भी अपना वर्चस्व कायम किया और उससे अर्थिक लाभ हासिल करने की कोशिश की 1867 तक जंगलों के सिलसिले में बहुत से कानून बन चुके थे जो जनजातियों के लिए रुकावट बन रहे थे। इन सभी परिवर्तनों से जनजातीय क्षेत्रों में तनाव उत्पन्न हो गया।

जनजातियों की प्रतिक्रिया आम तौर पर हिंसक ही रही। वास्तव में जनजातियों में अक्सर विद्रोह के स्वर गूंजे और बगावत ने अक्सर हिंसक रूप भी ले लिया। कुछ जगहों पर उनका यह आंदोलन सामजिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर सुधार की वजह भी बना। उन्हें ऐसा विश्वास था कि उनके नेताओं के चमत्कार से जनजातियों का सुनहरा युग दोबारा वापस आ जायेगा। मिसाल के तौर पर नैकदा की जंगली जनजातियों ने गुजरात में 1868 में पुलिस स्टेशन पर इस उद्देश्य से हमला किसा कि धर्मराज दोबारा स्थापित किया जा सके। उसी तरह 1882 में कच्छा नागा को ऐसा विश्वास था कि उनके नेता शंभूदान के हाथ से कुछ ऐसा चमत्कार होगा कि बंदूक की गोलियां उनके शरीर का कुछ भी न बिगाड़ पायेंगी। लेकिन जनजातियों के जिस विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार और ''दीकू'' दोनों को समान रूप से प्रभावित किया, वह संथाल विद्रोह (1855-57) और मुंडा विद्रोह (1899-1900) था।

संथाल विद्रोह

संथाली बीरभूम बंकारा, सिंहभूम, हज़ारी बाग़, भागलपुर और मुंगोर के इलाके के गरीब जनजाती थे। इस इलाके में भी जमींदारों एवं महाजनों का अत्याचार जारी था। महाजन 50 प्रतिशत से 500 प्रतिशत तक सूद वसूलते थे। जमींदारों के बिचौलियों का अत्याचार भी बढ़ता जा रहा था। वे उनसे बलपूर्वक बेगार लेते थे और रेलवे पटरियों के पास उनकी महिलाओं का यौन शोषण (Sexual Exploitation) किया करते थे।

जब आंदोलन की शुरुआत हुई तो वह मुख्य रूप से महाजनों और व्यापारियों के खिलाफ़ थी। 30 जून, 1855 को 10 हज़ार संथाली दो और कान्हू के नेतृत्व में भागीदारी में इकठ्ठे हुए और यह घोषणा की गयी कि संथाल शोषण करने वालों को इस इलाक़े से मार भगायेंगे। उन्हें विश्वास था कि ईश्वरीय आदेश पर ही वे इस तरह इकठ्ठे हुए हैं और ईश्वर उन विद्रोहियों की हर तरह से मदद करेगा। उन्होंने इस संघर्ष को ईश्वर और शैतान के बीच संघर्ष की सजा दी। इसे अच्छाई की बुराई के विरुद्ध युद्ध कहा गया। जब आंदोलन एक बार शुरू हो गया तो उन्होंने पुलिस, गोरे बागान मालिकों, रेलवे इंजीनियरों और सरकारी अधिकारियों सभी पर हमले शुरू कर दिये। इस तरह यह विद्रोह पूरी तरह ब्रिटिश राज के विरुद्ध हो गया।

मुंडा विद्रोह

छोटा नागपुर के पठारी क्षेत्रों में रहने वाले मुंडा जनजातियों के साथ भी कुछ इसी तरह की सम्स्याएं थीं। ईसाई मिशनरियों के प्रभाव ने समस्या को और भी उलझा कर रख दिया था। बिरसा मुंडा, जिसने खुद भी मिशनरी स्कूल से शिक्षा प्राप्त की थी, ने 1898-1899 के बीच रातों में अनेक जन सभाओं का आयोजन किया। उन सभाओं में उसने यूरोपीय गोरों, जागीरदारों, राजाओं, हाकियों और ईसाईयों

की हत्या के लिए लोगों को उकसाया। उसने लोगों को बताया कि दुशमनों के बंदूकों की गोलियां, तुम तक आते-आते पानी बन जायेंगी। मुंडा जनजातियों के मुंह पर यह गीत हर समय गूजता रहता था।

''करोगं बाबा करोगं, साहेब करोगं, करोगं, रारी करोगं करोगं।''

यानी, ''ओ बाबा, यूरोपीय साहेबों को मार डालो। सभी दूसरों को मार डालो, मार डालो, मार डालो''

दिसंबर 1899 में बिरसा मुंडा के अनुयायियों ने रांची और सिंहभूम में चर्चों में आग लगाने की कोशिश थी। पुलिस टुकड़ियों पर भी हमले किये गये। अंततः विद्रोहियों को पराजित कर दिया गया ओर बिरसा मुंडा को गिरफ़्तार कर लिया गया। जेल में ही बिरसा मुंडा की मृत्यु हो गयी। कहते हैं कि उसे हैज़ा हो गया था।

बाद में, 1980 ई. में, जब छोटा नागपुर काश्तकारी अधिनियम पारित हुआ और खूंर कट्टी अधिकार को मान्यता दे दी गयी और बेगारी प्रथा को समाप्त कर दिया गया, तो इस आंदोलन ने फिर ज़ोर पकड़ा।

निष्कर्ष

1. 1857 के स्वतंत्रता संघर्ष के बाद किसानों ने अपने संघर्ष को जारी रखा लेकिन अब उनका लक्ष्य सीमित हो गया। अब वह अग्रेजों के विरुद्ध नहीं रहा।
2. किसानों के अधिकांश विद्रोह क्षेत्रीय स्वाभाव के थे। उनमें आपसी समनवय की कमी थी। एक बार जब उद्देश्य हासिल हो जाता, विद्रोह भी समाप्त हो जाता। इस कारण वे ब्रिटिश साम्राज्य के लिए कभी खतरा नहीं बन सके।
3. बग़ावत तेजी से फैलती और आमतौर पर असहनीय अत्याचार एवं शोषण के विरुद्ध फैलती, ये किसान इस लिए भड़क उठते क्योंकि उनके अस्तित्व को ही खतरा महसूस होने लगता।
4. किसानों ने वास्तविक कारणों के लिए संघर्ष किया। उन्हें अपनी शक्ति और सीमाओं का ज्ञान था। इसलिए वे जमीन के मालिकाना अधिकारों के लिए कभी नहीं लड़े। इस मामले में उनका ज़ेहन बिल्कुल साफ़ था कि वे खेत से नहीं हटेंगे या अधिक कर नहीं देंगे। वे महाजनों और बागान मालिकों की चतुराई और बेईमानी के खिलाफ़ लड़ रहे थे। उन्हें इस पर कोई आपत्ति नहीं थी कि उनसे मालगुज़ारी क्यों ली जाती है या कर्ज़ों पर सूद क्यों देना पड़ता है। वे तो बस ये चाहते थे कि तय की गयी व्यवस्था में उनके साथ छल क्यों किया जाता हैं।
5. किसानों को अपने कानूनी अधिकारों का आभास होने लगा था। वे उन्हें अदालत के बाहर या अदालत के माध्यम से अपने विवादों को निपटाने लगे थे। उनमें सगंठनात्मक क्षमता दिखायी देने लगी थी। वे लोगों को किसी मुद्दे पर उभारने और आवश्यक कोष इकठ्ठा करने का गुण सीख चुके थे।
6. किसानों का आंदोलन, राष्ट्रवादी आंदोलन के शुरुआती दौर में साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था को समझने में पूरी तरह असमर्थ था। वे उसे बदल कर नयी व्यवस्था लाने की सोच ही नहीं सकते थे इसलिए किसानों के सभी संघर्ष उसी व्यवस्था में संशोधन के माध्यम से अपने समस्याओं का समाधान चाहता था। इसके अलावा राष्ट्रीय स्तर पर जागृति का भी अभाव था। संभवतः उनसे इस तरह की आशा करना जल्दबाज़ी भी होगी। बहरहाल 20वीं शताब्दी में यहां के किसान मज़दूर इस बात से पूरी तरह अवगत थे कि क्षेत्रीय एवं वर्ग आधारित जागृति क्या होती है और राष्ट्रीय स्तर पर उनकी ज़िम्मेदारी क्या है?

भारतीय राष्ट्रीय नेशनल कांग्रेस की स्थापना

आमतौर पर ऐसा समझा जाता है, और शोधकर्ता भी इसको स्वीकार करते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना अंग्रेजों ने स्वयं की थी और इसका उद्देश्य आम जनता में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध

पनपने असंतोष को कम करना था। लाला लाजपत राय सरीखे कांग्रेस के प्रचारकों ने भी इसी विचार का समर्थन किया है। लेकिन लार्ड डफरिन और ह्यूम के बीच होने वाले पत्राचार से और राष्ट्रवादी नेताओं की प्रारंभिक गतिविधियों के गहन अध्ययन से पता चलता है कि यह विचार एक मिथ्या के सिवा कुछ नहीं है।

28 दिसंबर 1885 को बंबई के सर तेज पाल संस्कृत विद्यालय में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना एक अकस्मात घटना नहीं थी। वास्तव में एक राष्ट्रीय संगठन की बात काफ़ी दिनों से चर्चा में थी। बिपन चंद्रा ने बिल्कुल सही कहा है कि राजनीतिक जागृति की प्रक्रिया 1860 और 1870 के दशक से ही शुरू हो चुकी थी। और 80 के दशक में शुरू होते-होते वह बहुत आगे आ चुकी थी। [India's Struggle for Independence, Penguin] भारतीय राष्ट्रवादियों ने कई बार कोशिश की कि एक राष्ट्रीय स्तर का कोई संगठन बनाया जाए। 1870 में बनायी गयी इंडियन एसोसियशन इसी सिलसिले की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इस संस्था ने कलकत्ता में दो बार (1883 और 1885 में) राष्ट्रीय कांफ्रेंस का आयोजन किया।

लेकिन एक अवकाश प्राप्त प्रतिनिधि अधिकारी ए. ऑक्टोवियन ह्यूम ही एक अखिल भारतीय पार्टी को संगठित करने में सफल हुए। उस पार्टी के देशभर में 72 प्रतिनिधि थे। यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि पार्टी की स्थापना में केवल ह्यूम की ही भूमिका नहीं थी और एक व्यक्ति लिए ऐसा कर पाना संभव भी नहीं था। हां उन्होंने उस समय के माहौल का लाभ उठाया। इसके अलावा वे इस लिए भी सभी भारतीयों को स्वीकार्य थे क्योंकि वे किसी क्षेत्र या जाति की दुर्भावनाओं से ग्रसित नहीं थे। भारतीय नेताओं का यह भी विचार था कि ह्यूम अधिकारियों में अधिक प्रभावशाली साबित होंगे। और इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता कि ह्यूम और वेडरबर्न की उपस्थिति से अधिकारियों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की छवि को संदेह की दृष्टि से नहीं देखा गया।

वास्तव में देखें तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में कलकत्ता और बंबई के बुद्धिजीवियों के एक नये वर्ग की मुख्य भूमिका थीं। उनमें से अधिकांश लोग 1860 के दशक के अंतिम दिनों में और 1870 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में लंदन में मिल चुके थे। वे या तो वहां आई.सी.एस. की तैयारी कर रहे थे। फ़िरोज शाह मेहता, बदरुद्दीन तैयबजी, डब्लू. सी-बनर्जी, मनमोहन घोष, आनन्द मोहन बोस, रमेश चन्द्र दत्ता, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, आदि उन नेताओं में शामिल थे जो लंदन में दादा भाई नौरोजी के संपर्क मे आए। दादा भाई नौरोजी लंदन में ही जा बसे थे और वहां उनका व्यापार था। उन लोगों ने सिविल सेवा में भारतीयता का मुद्दा उठाया और वर्नाकुलर प्रेस एक्ट (-1878), आर्म्स एक्ट (1878) और अफ़गान युद्ध का विरोध किया। और इलबर्ट बिल के समर्थन की घोषणा की। इन सारे मुद्दों में सरकार के खिलाफ़ खूब प्रचार किया गया और पहली बार भारतीयों को यह एहसास हुआ कि अखिल भारतीय स्तर पर एक राजनीतिक पार्टी अहम जरूरत है।

स्वतंत्रता संघर्ष के संस्थापकों का मुख्य उद्देश्य भारत वर्ष की स्थापना करना और भारतीयता की भावना को जागृत करना था। इससे पहले भारत केवल एक भौगोलिक इकाई के रूप में जाना जाता था। राष्ट्रवादी नेताओं को इसका आभास था। तिलक और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी को भारत को एक देश कहने मे कोई झिझक नहीं थीं। इस तरह भारतीयता का एहसास और भारतीयों में एकता की भावना को जगाना ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य था। कांग्रेस ने शुरू से ही अपनी अखिल भारतीय धर्मनिरपेक्ष पार्टी की छवि बनाये रखी है।

कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन चक्रण के आधार पर देश के विभिन्न भागों में आयोजित होता रहा। और इस बात का भी ख्याल रखा गया कि देश के जिस भाग में अधिवेशन होगा, अध्यक्ष वहां का नहीं होगा। उदाहरण के तौर पर पहला अधिवेशन बंबई में हुआ लेकिन अध्यक्ष व्योमेश चन्द्र बनर्जी बने, जो कलकत्ता के थे। दूसरा अधिवेशन कलकत्ता में हुआ, जबकि अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी बने, जो बंबई प्रेसिडेंसी के रहने वाले थे। अल्पसंख्यकों का विश्वास जीतने के उद्देश्य से 1888 में हुए इलाहाबाद

अधिवेशन में यह तय किया गया कि ऐसा कोई प्रस्ताव पारित नहीं किया जायेगा जिसका हिंदुओं या मुसलमानों के अधिकांश प्रतिनिधि विरोध करेंगे। फिर 1889 के अधिवेशन में एक अल्पसंख्यक प्रस्ताव पारित किया गया, जिसके अनुसार पारसियों, ईसाइयों और मुसलमानों (या हिंदु यदि अल्पसंचयक हों) के परिषदों की संख्या उनके आबादी के अनुपात से कम नहीं होगी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रारंभ में एक उद्देश्य यह भी था कि वह एक ऐसा सांझा मंच तैयार करे जिस पर देश के विभिन्न स्थानों से आने वाले राजनीतिक कार्यकर्ता इकट्ठे हो सकें। कांग्रेस नेतृत्व ने जनमत तैयार करने और उसे संगठित रूप प्रदान करने की कोशिश भी की। यह सवाल कि कांग्रेस अपने उद्देश्यों में किस हद तक सफल हो सकी उस पर कांग्रेस के दूसरे दौर में विचार विमर्श किया गया।

कांग्रेस का उदारवादी दौर

आम तौर पर 1885 से 1905 तक दौर कांग्रेस का उदारवादी दौर कहलाता है। उनके नेता हर वर्ष के अंत में यानी 29,30 और 31 दिसंबर, को आपस में मिलते थे। यह उनका एक बहुत बड़ा राजनितिक एवं सामाजिक आयोजन होता था। अध्यक्ष सभा को विभिन्न विषयों पर संबोधित करता था। सभा उन मुद्दों पर विचार विमर्श करती, प्रस्ताव पारित होते और फिर वे एक वर्ष के बाद मिलने का वादे के साथ विदा जाते। सभा की जगह तो बदल जाती लेकिन तिथि वही रहती।

कांग्रेस के उदारवादी नेता मुख्य रूप से बंबई, बंगाल और मद्रास से थे। मिसाल के तौर पर दादा भाई नौरोजी, बदरुद्दीन तैयब जी, आप्टे आगरकर, फ़िरोज़ शाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले, के.टी तेलगं, और गोविन्द रनाडे बंबई से थे। व्योमेश चन्द्र बनर्जी, आनन्द मोहन बोस, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी और रमेश चन्द्र दत्ता बंगाल से थे। सुब्रमणयम अय्यर, आनन्द चारलू, और राधवचार्या मद्रास से संबंधित थे। बहुत ही कम नेता जैसे मदन मोहन मालवीय, और पंडित डी.पी. धर का संबंध उत्तर भारत से था। ये उदारवादी नेता ब्रिटिश राज को ईश्वर का वरदान मानने थे। वास्तव में उन्हें विश्वास था कि ब्रिटिश राज में भारत एक विकसित सम्पन्न एवं उदार देश के रूप में उभरेगा। उन्हें ऐसा विश्वास था कि ब्रिटिश इस देश में आधुनिक संस्थान और देश से अंधविश्वास को समाप्त करेगा। वे इंग्लैंड को प्रेरणा की दृष्टि से देखते थे और अंग्रेजों को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। इस तरह के अधिकांश नेता अपने जीवन को अंग्रेजी ढांचे में ढ़ाल चुके थे। वे अंग्रेजों से बस यही चाहते थे कि भारत को कुछ पैकेज दे दें।

गवर्नर जनरल लार्ड डफ़रिन (1884–1888) कांग्रेस पार्टी को एक सूक्ष्म दृष्टि वाला अल्पसंख्यक समूह मानते थे जो भारतीयों के एक बहुत ही छोटे वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। फिर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की भूमिका, उसके उद्देश्य और उसके लक्ष्य पर विचार-विमर्श शुरू हुआ अधिकांश आलोचक, चाहे वे भारत के हों, या इंग्लैंड के, कांग्रेस को मध्यम वर्गीय ज़मींदारों एवं पूंजीपतियों का प्रतिनिधि मानते थे। 1885 से 1905 तक के कांग्रेस के प्रस्तावों को सरकारी नजर से देखकर भी यह समझा जा सकता है कि कांग्रेस बहुत ही छोटे एवं सूक्ष्म समूह का प्रतिनिधित्व नहीं करना हैं। कांग्रेस के प्रसतावों को मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है:

1. राजनीतिक,
2. प्रशासनिक एवं
3. आर्थिक।

राजनीतिक मांगें

- सुप्रीम कौंसिल एवं क्षेत्रीय विधायिकाओं को अधिक अधिकार मिले।
- कौंसिल को बजट पर बहस करने की अनुमति मिले।
- कौंसिल को विश्वविद्यालयों एवं चैम्बर ऑफ कार्मस आदि से कुछ और प्रतिनिधित्व मिले।

- पंजाब, अवध (NWP) और उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत (NWFP) में विधान सभा का गठन हो।

प्रशासनिक मांगें

- सिविल सेवा का भारतीकरण, यानी भारत में भी इसकी परीक्षा आयोजित हो।
  - आई.सी.एस. उत्तीर्ण करने भारतीयों को भी समान अवसर मिले।
  - नस्लवाद को प्रमुखता न दी जाए।
  - धन के बहाव में रोक लगे। गोरे लोग भारी वेतन और भारी पेंशन पा रहे थे और इस तरह देश का धन बाहर जा रहा था।
  - प्रशासन भारतीयों की आवश्यकताओं के प्रति अधिक उत्तरदायित्व का प्रदर्शन करे।
- न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक किया जाए।
- ज्यूरी के ट्रायल को विस्तार दिया जाए।
- सेना में भारतीयों को उच्च पद मिले।
- भारतीय स्वयंसेवी बल को बढ़ावा मिले।

आर्थिक मांगें

1855 से 1905 तक होने वाले कांग्रेस अधिवेशनों में लगातार ये प्रस्ताव पारित हुए:

- गृह व्यय और सैनिक खर्चों में कटौती की जाए।
- भारत में बढ़ती हुई गरीबी और भुखमरी की जांच हो।
- तकनीकी शिक्षा के लिए अधिक कोष उपलब्ध कराया जाए ताकि भारतीय उद्योग का विकास संभव हो सके।
- भारतीय कल-कारखानों की सुरक्षा और उत्थान के उपाय किये जाएं।
- अनुचित करों और उत्पाद शुल्क को समाप्त किया जाए।
- विदेश में कार्यरत भारतीय मजदूरों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाए।
- वन कानून में बदलाव लाया जाए, जो जंगलियों को जंगल के उपभोग से रोकती है।
- भू-राजस्व को कम किया जाए और कृषि बैंक की स्थापना हो।

इस तरह यह बात साबित हो जाती है कि कांग्रेस केवल जमींदारों, पूंजीपतियों और अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों के बारे में ही नहीं सोचती थी बल्कि उसकी दृष्टि समाज के प्रत्येक वर्ग की समस्याओं पर थी। कांग्रेस के उद्देश्यों से यह बिल्कुल भी पता नहीं चलता कि वह अपने आप को 'उदार' समझती थी। कांग्रेस के प्रारंभिक दौर के नेता संवैधानिक तरीकों से संघर्ष करने पर विश्वास करते थे। इसीलिए आवेदन करना, भाषण देना और लेख लिखना आदि उनके संघर्ष का प्रमुख तरीक़ा हुआ करता था। इस की एक बड़ी वजह यह भी थी कि कांग्रेस के प्रारंभिक दौर के नेता की पृष्ठभूमि वैसे ही सामाजिक ढांचों की थी। वे 'बहुत ही सफल व्यावसायिक घरानों से आये थे। वे वकील थे, पत्रकार थे, या प्रोफ़ेसर थे। उनका व्यक्तिगत जीवन पर अंग्रेजों का प्रभाव था। संभवत: उन्हें सबसे पहले यही सिखाया जाता था कि आवेदन किस तरह दिया जाए या अपील किस तरह की जाए और फिर यह भी एक कारण था कि अधिकांश नेताओं के लिए राजनीति एक अतिरिक्त कार्य था।'

यहां दिलचस्प बात यह है कि शुरू के कांग्रेसी नेता जिन्हें लोकतांत्रिक व्यवस्था पर पूरा विश्वास था लेकिन उन्होंने इसे पार्टी के स्तर पर नहीं अपनाया और न उन्होंने अपनी सरकार बनाने की मांग की। विधायिकाओं में भारतीयों का प्रतिनिधित्व का अर्थ वे केवल पढ़े-लिखे भारतीयों का प्रतिनिधित्व समझते थे।

सन् 1905 में गोखले ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि पढ़े-लिखे लोग ही कांग्रेस के

स्वाभाविक नेता हैं। उन्होंने अपने प्रस्ताव की व्याख्या करते हुए कहा था कि राजनीतिक अधिकारों की मांग पूरी आबादी के लिए नहीं की जा रही है। बल्कि यह केवल उन पढ़े-लिखे लोगों के लिए है जो अपने कर्तव्यों का निर्वाह अच्छे ढंग से कर सकें।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सामाजिक ढांचा 1905 तक ऐसा ही रहा। कांग्रेस के सचिव ह्यूम ने पूरी कोशिश की कि मुसलमानों और गरीब किसानों को भी कांग्रेस में शामिल किया जाए लेकिन उन्हें अपेक्षित सफलता नहीं मिली। मुस्लिम बुद्धिजीवियों को, विशेषकर अलीगढ़ के मुसलमानों का विचार था कि वे कौंसिल में नहीं चुने जा सकेंगे क्योंकि हर जगह हिंदुओं की संख्या अधिक है। मुस्लिम बुद्धिजीवियों ने प्रतियोगी परीक्षाओं का भी विरोध किया क्योंकि सीविल सर्विस की परीक्षाएं अंग्रेजी में होती थीं, जबकि मुसलमान, हिंदुओं से अंग्रेजी के मामले में बहुत पीछे थे। उन्हें इस भय था कि सीविल सेवा में हिंदुओं का दबदबा हो जायेगा। इन सारे कारणों ने मुसलमानों को कांग्रेस से दूर रखा। कांग्रेस ने भी मुसलमानों को अपने में मिलाने की कोई गंभीर कोशिश नहीं की। यह एक बहुत बड़ी गलती थी जिसका एहसास उन्हें बाद में हुआ।

इतनी कमियों के बावजूद उदारवादी नेता भारत में राजनीतिक जागृति लाने में सफल हुए। प्रारंभिक उदारवादी नेता इंडियन कौंसिल एक्ट-1892 पारित कराने में सफल हुए। इस एक्ट के तहत केंद्रीय लेजिसलेटिव कौंसिल और प्रादेशिक लेजिस्लेटिव कौंसिल में सदस्यों की संख्या बड़ा दी गयी। कौंसिल को बजट में बहस में भाग लेने का अधिकार नहीं मिल गया। लेकिन उसमें मत देने का अधिकार नहीं मिला। 19वीं शताब्दी के अंत होते-होते 'स्वराज्य' का मुद्दा उठ गया और आखिरकार 1905 के वार्षिक अधिवेशन (बनारस) में और 1906 के अधिवेशन (कलकत्ता) में 'स्वराज्य' का प्रस्ताव पारित हो गया।

उग्रराष्ट्रवाद का विकास

राष्ट्रवाद का उग्रवादी रूप पहले पहल बंकिम चन्द्र चटर्जी और स्वामी दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं एवं उपदेशों से सामने आया। बंकिम चन्द्र चटर्जी को 'भगवत गीता' से प्रेरणा मिली थी और वे भारत को श्रीकृष्ण की तर्ज़ पर भारत को एकता की कड़ी में बांधना चाहते थे। ''भगवद गीता'' में श्रीकृष्ण ने शैतानों पर विजय प्राप्त करके ही 'धर्मराज' की स्थापना की थी। विवेकानन्द ने राष्ट्रवाद को अध्यात्मिक रंग में रंगने की कोशिश की। इसीलिए विपिन चन्द्र उन्हें ''राष्ट्रवाद के ईशदूत'' की सजा देते हैं। उन्होंने अपने समय के जवानों को जितना अधिक प्रभावित किया, उतना किसी और व्यक्ति ने नहीं किया।

उग्रवाद की जड़ में दो मुख्य कारक काम कर रहे थे। उपनिवेशवादी शासक व्यवस्था की नीतियां और उदारवादी नेताओं की असफलतओं ने नयी नस्ल और आम नागरिकों को उग्रवादी नीतियां अपनाने को बाध्य किया।

उग्रराष्ट्रवाद के उदय के राजनीतिक कारण

1. इंडियन कौंसिल एक्ट, 1892 भारत में चुनाव प्रक्रिया को गति देने में असफल रही। इसमें केवल कुछ सदस्यों का चुनाव संभव हो सका।
2. उसी के साथ सीविल सर्विस परीक्षाओं में बैठने की अनुमति नहीं मिल सकी।
3. भारतीयों ने टैरिफ़ एक्ट कॉटन ड्यूटी एक्ट-1894 और 1896 को अपना लिया।
4. 1896 में महाराष्ट्र में अकाल पड़ गया।
5. बहुत से राष्ट्रवादी नेताओं जैसे दामोदर, बालकृष्ण, (चापेकर बंधु) और बाल गंगाधर तिलक के खिलाफ़ पूना के कलेक्टर की हत्या के लिए मुकदमा चला और सज़ा सुनायी गयी। नाथू और हरि को बिना मुक़दमा चलाए ही जेल में रखा गया और उनकी संपत्ति को कुर्की ज़ब्ती

हो गयी। बाद में चापेकर बंधुओं और माधव रनाडे को भी फांसी की सज़ा सुना दी गयी। उन पर ड्राविड बंधुओं की हत्या का आरोप था।

6. विरोध के बावजूद बंगाल को विभाजित कर दिया गया।
7. 1904 में प्रेस की आज़ादी छीन ली गयी और भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम 1904 के अंतर्गत विश्वविद्यालयों को अपने अधीन कर लिया गया।
8. जापान के हाथों रूस की पराजय (1904-5) ने शिक्षित युवकों को प्रेरित किया। एशिया के एक छोटे से देश ने दुनिया के सबसे बड़े देश को पराजित कर दिया, जबकि वे भी गोरे थे।
9. क्षेत्रिय समाचार पत्र जो 1885 में 2,99,000 की संख्या में प्रकाशित होते थे वे 1905 में 8,17,000 तक पहुंच गये। कुछ लोकप्रिय समाचार-पत्रों ने जैसे केसरी (मराठी) और बंगभासी (बंगाली), ने उदारवादी कांग्रेसियों का विरोध किया।

शुरू के नेताओं में से एक जिन्होंने खुलकर उदार राजनिति की आलोचना की और 'New Lamps For Old' कॉलम के तहत लेखों की पूरी शृंखला लिख डाली, वे अरबिंद घोष थे। वे संवैधानिक संघर्ष के कट्टर विरोधी थे और उन्होंने कांग्रेस की उदारवादी नीति की खुलकर आलोचना की। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि कांग्रेस नेताओं को इंग्लैंड की जगह फ्रांसीसी आंदोलन (1789) से प्रेरणा लेनी चाहिए। उन्होंने कामकाजी वर्ग को भी राष्ट्रीय आंदोलन में भागीदारी बनाने का सुझाव दिया।

कांग्रेस में जो नया नेतृत्व उभर रहा था वह आवेदन पत्रों एवं प्रार्थनाओं वाली नीति से खुश नहीं था। वे आत्म-सम्मान, निर्माण कार्य, व्यापक जन संपर्क (मेला एवं जन सभा के माध्यम से), एवं शिक्षा एवं राजनीति के लिए मातृभाषा के प्रयोग के पक्ष में था। बिपिन चन्द्र पाल, अश्वनी कुमार दत्ता, लाला लाजपत राय और बाल गंगाधर तिलक आदि नेता इसी सोच का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। उन लोगों का मानना था कि एक अच्छी सरकार अपनी सरकार का स्थान नहीं ले सकती। स्वदेशी आंदोलन के मुद्दे ने उदारवादी और उग्रवादी नेताओं के बीच मतभेदों को और बढ़ाने का प्रयास किया। लाजपत राय और तिलक अपनी सोच और योजनाओं के प्रति अधिक उग्र थे। लाजपत राय ने ललकारा : ''किसी भी ऐसे देश को राजनीतिक हैसियत नहीं मिल सकती जो अपने अधिकार की भीख मांगने और अधिकार जमाने का अंतर न समझता हो।'' उन्होंने अपनी बात को ज़ोर देते हुए आगे कहा : ''संप्रभुता लोगों के लिए होती है और राज्य का अस्तित्व उन पर निर्भर करता है और उन्हीं के नाम पर शासन किया जाता है।''

लेकिन सच्चे अर्थों में उग्र राष्ट्रवाद की बुनियादी बाल गंगाधर तिलक ने डाली जो कि पूना का एक चितपावन ब्राह्मण था। उन्होंने उदारवादियों की अपने विशेष शैली में आलोचना की। उन्होंने कहा : ''हम कभी अपने अपेक्षित लक्ष्य को नहीं पा सकते यदि हम वर्ष भर भी मेंढक की तरह टरटारते रहें।''

उन्होंने भारतीय राजनीति का लक्ष्य निर्धारित कर दिया। उन्होंने प्रशासन में संशोधन की जगह 'स्वराज' को अपना लक्ष्य बताया। उन्होंने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ कहा कि'' स्वराज हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और हमें उसे पाना है। उन्होंने इसके लिए कई तरीक़े सुझाए :

1. धार्मिक पहचानों और त्योहारों को बढ़ावा मिले। जैसे गणेश पूजा का आयोजन 1894 से लोगों को प्रेरित करने के लिए किया जाने लगा।
2. ऐतिहासिक महापुरुषों के सम्मानित किया जाए जैसे शिवाजी का मेला 1896 से युवकों को उत्साहित करने के लिए आयोजित किया जाने लगा।
3. 1896-97 में जब महाराष्ट्र में भयानक अकाल पड़ा तो मालगुज़ारी न देने का आह्वान किया। उन्होंने सरकार से मांग की कि वह राहत कार्यों की व्यवस्था करे और अकाल राहत कोष का कानून बने। फिर अपने समाचार-पत्र 'केसरी' के माध्यम से उन्होंने करों का भुगतान न करने

का आह्वान किया। उन्होंने आक्रोश में आकर लिखा कि 'क्या तुम उस समय भी निर्भीक नहीं हो सकते हो जब तुम मौत के आग़ोश में पहुंच चुके हो।'

4. उन्होंने 1896 में कपास कर के विरोध में 'बहिष्कार आंदोलन' भी चलाया।

तिलक और लाजपत राय द्वारा धार्मिक कर्मकांडों का प्रयोग और पूजा व मेला आदि का आयोजन भारत में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जागृति का कारण बना। लेकिन इससे एक आंतरिक खतरा भी उत्पन्न हो गया क्योंकि इस तरह मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों कांग्रेस से दूरी बढ़नें लगी।

भारतीय परिषद अधिनियम-1909 या मार्ले-मिंटो सुधार

भारतीय राजनीति में उग्रवादी प्रवृत्ति में वृद्धि जो 19वीं शताब्दी के अंतिम दिनों और 20वीं शताब्दी के शुरुआती दिनों में हुई, उसने न केवल कांग्रेस को उदार और उग्र दो गुटों में बांट दिया बल्कि ब्रिटिश सरकार को भी यह समझने पर मजबूर कर दिया कि कांग्रेस का गर्म दल ब्रिटिश सरकार के भविष्य के लिए अच्छा नहीं है। इसीलिए ब्रिटिश इंडियन सरकार ने निम्नलिखित नीति अपनायी:

1. उग्रवादियों पर दबाव बनाया जाए।
2. उदारवादियों को कुछ रियायतें प्रदान की जाएं।
3. बांटो और राज करो।

संविधान के संशोधन करने पर उदारवादी नेताओं ने और कुछ मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल ने शिमला में सरकार को यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि वे सही दिशा में सोच रहे हैं इसीलिए राज्य सचिव मार्ले और गवर्नर जनरल मिंटो ने संशोधन के लिए कुछ सुझाव पेश किए जिसे 1909 में जिसे भारतीय परिषद अधिनियम-1909 का नाम दिया गया।

प्रस्ताव

1. केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों की संख्या 16 से बढ़ाकर 68 कर दी गयी।
2. 68 में से 36 सदस्य सरकारी अधिकारी होंगे और शेष 32 सदस्य गैर-सरकारी लोगों के लिए आरक्षित रहेंगे।
3. 32 गैर-सरकारी सदस्यों में से 5 सदस्यों को मनोनीत किया जायेगा। शेष 27 सदस्यों का चुनाव होगा।
4. 27 निर्वाचित सदस्यों में से 5 हिंदु जमींदार होंगे, 5 मुस्लिम समुदाय से होंगे, 1 मुस्लिम जमींदार होगा, 1 बंबई के चैंबर ऑफ कामर्स का सदस्य होगा, और शेष 13 सदस्यों को प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं से चुना जायेगा।
5. प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं से चुने गये सदस्यों में बंगाल, मद्रास, बंबई और संयुक्त प्रांत से दो-दो सदस्य, पंजाब, बिहार, असम, मध्य प्रांत, और बर्मा से एक-एक सदस्य होंगे।
6. गवर्नर जनरल के कार्यकारणी परिषद में एक भारतीय की नियुक्ति होगी। सत्येन्द्र सिन्हा ऐसे पहले भारतीय थे। जो गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद के सदस्य बने।
7. इंडियन कौंसिल ऑफ सेक्रेट्री ऑफ स्टेट में दो भारतीयों को नियुक्त किया गया। के.सी. गुप्ता और सैयद हुसेन बिलग्रामी को पहली बार नियुक्त किया गया।
8. व्यवस्थापिका सभा आर्थिक मामलों में बहस में भाग ले सकेगी। संशोधन विधेयक भी ला सकती है। कुछ मामलों में उसे मत देने का भी अधिकार होगा। वे कुछ पूरक प्रश्न भी पूछ सकती है। किसी प्रस्ताव पेश करने के लिए अध्यक्ष के पास 15 दिन पहले नोटिस देना होगा।

योग्यताएं

उन्हीं लोगों को मत देने के योग्य समझा जायेगा जिनकी वार्षिक आय 15,000 रुपये या उससे अधिक हो या जो 10,000 रुपये तक कर देता हो। बंगाल में केवल उन्हीं लोगों को मत देने का अधिकार दिया गया जो या तो राजा थे या नवाब। मुसलमानों के मतों का मूल्य हिंदुओं के मतों से कम रखा गया। यद्यपि सरकार या मुस्लिम नेता हमेशा पूरे समाज की बात करते थे लेकिन वास्तव में मुसलमानों के कुछ बुद्धिजीवी वर्ग को ही इसका लाभ मिला।

प्रांतीय व्यवस्थापिका

प्रांतीय व्यवस्थापिका परिषद के सदस्यों की संख्या 1909 के अधिनियम के तहत बढ़ाकर इस तरह कर दी गयी :

बंगाल	—	52
बंबई	—	47
मद्रास	—	47
संयुक्त प्रांत	—	47
पूर्वी बंगाल और असम	—	47
पंजाब	—	25
बर्मा	—	16

अधिनियम के अनुसार, उन सदस्यों की संख्या को अधिकारिक नहीं थे हमेशा बहुमत में रहेगें। लेकिन कुछ सदस्यों को गवर्नर मनोनीत करता था जिससे परिषद पर सरकारी की पकड़ बनी रहती थी। इसे मद्रास के उदाहरण से समझा जा सकता है।

अ. ऐसे सदस्य जो अधिकारिक नहीं हैं	26
1. निर्वाचित	21
2. मनोनीत	05
ब. अधिकारिक सदस्यों की संख्या	21

इस तरह कुल मनोनित सदस्यों की संख्या = 21+5=26

कुल निर्वाचित सदस्य =21

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि कुल मनोनीत सदस्यों की संख्या निर्वाचित सदस्यों से अधिक थी। और यह स्वाभाविक ही है कि मनोनीत सदस्य सरकार के प्रति वफ़ादार होते हैं।

यह अधिनियम किसी को भी संतुष्ट न कर सका। 1909 के कांग्रेस अधिवेशन में इसका खुलकर विरोध किया गया। सरकार ने भी इसकी असफलता को मान लिया और 9 वर्ष के अंदर-अंदर इसको संशोधित कर दिया गया। और ये मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट-1918 के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

होम रूल लीग

जब ऐनी बेसेंट कांग्रेस में शामिल हुईं तो उन्होंने दल को एक बार फिर सक्रिय बनाने की कोशिश शुरू की। 1970 में सूरत में होने वाले विभाजन के बाद कांग्रेस निषक्रिय होकर रह गयी थी। वह आइरिश होम रूल लीग की तर्ज पर होम रूल आंदोलन चलाना चाहती थीं और इसके लिए उन्हें कांग्रेस से स्वीकृति भी चाहिए थी और उग्र कांग्रेसियों का सहयोग भी। वे उग्र लोगों को भी कांग्रेस में वापस लाना चाहती थीं।

1915 में उन्होंने एक मुहिम शुरू की। उन्होंने 'न्यू इंडिया', और 'कॉमनवील' नाम से दो समाचार-पत्र निकाले, जन सभाओं की, कांफ्रेसों का आयोजन किया और इस तरह 'स्वराज्य' का अलख जगाया। यद्यपि कांग्रेस ने उग्रपंथियों को कांग्रेस में शामिल कर लेने का फैसला कर लिया लेकिन ऐनी बेसेंट कांग्रेस और मुस्लिम लीग को होम रूल लीग के लिए तैयार न कर सकीं।

इधर ऐनी बेसेंट यह योजना ही बना रही थीं कि अप्रैल, 1916 में पूना में बाल गंगाधर तिलक ने होम रूल लीग की स्थापना कर दी। वे महाराष्ट्र को ही अपना आधार बनाना चाहते थे। उनका "होम रूल लीग" महाराष्ट्र, मध्यप्रांत और कर्नाटक तक सीमित था। अप्रैल, 1916 में लीग के सदस्यों की संख्या 1400 तक थी। लेकिन 1917 के शुरू होते-होते उनके सदस्यों की संख्या 32,000 तक पहुंच गयी।

ऐनी बेसेंट ने सितंबर, 1916 में होम रूल लीग की स्थापना की। ऐनी बेसेंट ख़ुद तो उसकी अध्यक्ष बनीं, जार्ज अरंडेल संस्थापक सचिव, सी.सी. रामास्वामी अय्यर महासचिव और बी.पी. वाडिया को कोषाध्यक्ष बनाया गया।

हालांकि ऐनी बेसेंट और बाल गंगाधर तिलक दोनों के लक्ष्य समान थे, दोनों ही कांग्रेस पार्टी में शामिल थे, फिर भी उन्होंने अलग-अलग लीग क्यों क़ायम थी? ऐनी बेसेंट इस सवाल के जवाब में कहती हैं कि हम दोनों के पैरोकार एक दूसरे को पसंद नहीं करते थे इसलिए दो लीग का गठन हुआ। लेकिन दोनों ने परिपक्वता का परिचय देते हुए अपने-अपने कार्य क्षेत्र सुनिश्चित कर लिये। तिलक की लीग जहां महाराष्ट्र, कर्नाटक, मध्य प्रांत और बरार में सक्रिय थी, वहीं ऐनी बेसेंट की लीग भारत के शेष भागों में सक्रिय रही।

होम रूल की अनिवार्यता पर प्रकाश डालने हुए ऐनी बेसेंट ने कहा कि भारत में दो कारणों से होम रूल ज़रूरी है। इसका पहला कारण तो यह है कि आज़ादी किसी भी देश का जन्म-सिद्ध अधिकार है और दूसरा और महत्वपूर्ण कारण यह है कि देश का संपूर्ण संसाधन ब्रिटिश साम्राज्य के हितों में लग रहा है और देश अपने संसाधनों का इस्तमाल अपने हित के लिए नहीं कर पा रहा है।

तिलक ने इस मामले में अधिक आत्मविश्वास का सबूत दिया और उन्होंने निर्भय होकर यह घोषणा की कि "स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है और हम इसे हासिल करके रहेंगे।"

लोगों को, विशेषकर नई नस्ल के जवानों को उभारने के लिए ऐनी बेसेंट के होम रूल लीग ने शहरों में अध्यापन कक्षों की व्यवस्था की। विभिन्न स्थानों पर चर्चा करने वाले समूह गठित किये गये। बड़ी संख्या में पंफलेट बांटे गये 'अतिथि कारखानों' का आयोजन किया गया। छात्रों के लिए राजनीति शास्त्र की क्लासें लगवायी गयीं। समाज सेवा का काम कराया गया। क्षेत्रीय स्तर पर सरकारों के काम में सहयोग किया गया और फंड इकट्ठे किये गये। उन्होंने अपने समाचार पत्रों के द्वारा इसका प्रचार-प्रसार किया।

उन्हें अपने संपर्क से बहुत सहयोग मिला और उन्होंने मद्रास के पास अडयार को अपना मुख्यालय बनाया। यद्यपि होम रूल लीग की देश भर में 200 शाखाएं थी लेकिन उनके सदस्यों की संख्या केवल 27,000 थी, जबकि तिलक के लीग में 32, 000 सदस्य थे।

तिलक के लीग की केवल 6 शाखाएं थीं। मध्य प्रांत, बंबई सीटी, कर्नाटक और मध्य महाराष्ट्र में एक-एक शाखा और बराह में दो शाखाएं थीं। उन्होंने महाराष्ट्र में जगह-जगह का दौरा किया और ज़ोरो-शोर से 'स्वराज्य' का मुद्दा उठाया। उन्होंने भाषा के आधार पर राज्य बनाने की मांग की और देश में क्षेत्रीय भाषाओं के उत्थान पर ज़ोर दिया। उन्होंने लैंगिक आधार पर होम रूल की मांग की। होम रूल लीग ने आबकारी कर, नमक और भू-राजस्व के मुद्दे को भी उठाया जिससे ग्रामीण भी आकर्षित हुए।

जून, 1917 में इस आंदोलन ने उस समय ज़ोर पकड़ा जब मद्रास सरकार ने ऐनी बेसेंट को नज़रबंद कर दिया। मोतीलाल नेहरू, तेज बहादुर सप्रू, मुंशी नारायण प्रसाद, सी.वाई. चिंतामणि और आस्थाना जैसे प्रसिद्ध नेता होम रूल लीग में शामिल हुए और ऐनी बेसेंट की गिरफ़्तारी के विरुद्ध प्रदर्शन किया।

इस आंदोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि इससे नयी पीढ़ी के हज़ारों नेता जुड़ गये। एक राष्ट्रीय आंदोलन शुरू हुआ और नये-नये इलाक़ों में इसकी गूंज सुनी गयी। मद्रास के तमिल ब्राह्मण, संयुक्त प्रांत (U.P) के ग्रामीण, व्यापारी, बंबई और गुजरात के वकील आदि लीग में शामिल हो गये। इन नये नेताओं में बहुत से लोगों ने बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभायी और महात्मा गांधी के अच्छे सिपाही सिद्ध हुए। इन नये नेताओं में जवाहरलाल नेहरू और ख़लीकुज़्ज़मा संयुक्त प्रांत से, सत्यमूर्ति मद्रास से, जीतेन्द्र लाल बनर्जी बंगाल से, यमुना दास द्वरिका दास, उमर सुब्हानी, शंकर लाल बंकर और इंदू लाल याज्ञनिक गुजरात से थे।

यद्यपि होम रूल आंदोलन अपने लक्ष्य को पाने में असफल रहा लेकिन इसने भारत की राजनीति में एक नया वातावरण बनाया, जिसमें जनसभाएं और प्रदर्शन आदि रूटीन बन गयीं। इसका तत्कालिक लाभ यह हुआ कि मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार-अधिनियम (1918) पारित हो गया।

लखनऊ समझौता, 1916

नेतृत्व के बदलने से कांग्रेस और मुस्लिम लीग आपस में करीब आ गये। जब ऐनी बेसेंट 1915 में कांग्रेस में शामिल हुईं और तिलक 1916 में दोबारा कांग्रेस में शामिल हुए, कांग्रेस पार्टी सक्रिय हो उठी। मुस्लिम लीग में भी बहुत बदलाव आया। अब इन पार्टियों पर ज़मींदारों और नवाबों का वर्चस्व नहीं रहा बल्कि पार्टी का नेतृत्व नयी पीढ़ी के हाथों में आ गया। मुस्लिम लीग का नया नेतृत्व राष्ट्रवादी भी था और विकासशील भी।

वे ब्रिटिश की नीतियों से खुश नहीं थे। ब्रिटेन ने तुर्की को, जो कि एक इस्लामी राज्य था की मदद करने से इंकार कर दिया था। 1911 में बंगाल को विभाजित कर दिया गया। और सरकार ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय को मान्यता प्रदान करने से मना कर दिया था।

कांग्रेस पार्टी का वार्षिक अधिवेशन दिसंबर, 1916 में लखनऊ में आयोजित हुआ। मुस्लिम लीग का वार्षिक अधिवेशन भी उसी जगह सम्पन्न हुआ। दोनों पार्टियों ने अलग-अलग परंतु एक ही प्रस्ताव पारित किया। वही प्रस्ताव लखनऊ समझौते के नाम से मशहूर हुआ। इसका पहला भाग भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक हितों से संबंधित था, जबकि दूसरा भाग देश के सामान्य विकास से संबंधित था।

मुसलमानों का राजनीतिक हित

1. कांग्रेस ने मुसलमानों के पृथक प्रतिनिधित्व (Separat electroate) की स्थापना को जो इंडियन कौंसिल एक्ट (1909) द्वारा पेश की गयी थी स्वीकार कर लिया। इससे पहले कांग्रेस इसका विरोध करती थी।
2. प्रांतीय विधानसभाओं में मुसलमानों की सीटें आरक्षित कर दी गयीं। मुस्लिम नेताओं ने भी मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में अपना प्रतिनिधित्व स्वीकार कर लिया। उदाहरण के रूप में बंगाल में 40 प्रतिशत सीटें मुसलमानों को दी गयीं, जबकि मुसलमानों की जनसंख्या कुल आबादी की 52 प्रतिशत थी। इसके विपरीत बंबई या संयुक्त प्रांत में 30 प्रतिशत सीटें मुसलमानों को दी गयीं। इससे यह भी पता चलता है कि बंबई और संयुक्त प्रांत में मुस्लिम नेताओं का वर्चस्व था।

प्रांतीय व्यवस्थापिकायें—	मुसलमानों की सीटें (प्रतिशत)
पंजाब	50%

बंगाल	40%
संयुक्त प्रांत (उ.प्र.)	30%
बंबई	30%
बिहार	25%
मध्य प्रांत	15%
मद्रास	15%

3. केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा की एक-तिहाई सीटें मुसलमानों के लिए आरक्षित थीं, जिनके सदस्य पृथक प्रतिनिधित्व के माध्यम से निर्वाचित होते थे।
4. यदि किसी समुदाय विशेष के तीन-चौथाई सदस्य विधानसभा में पेश किए गये किसी प्रस्ताव का यह कहकर विरोध करें कि वह उनके समुदाय के हितों के विरुद्ध है, तो यह प्रस्ताव पारित नहीं होगा।

भारत से संबंधित समझौता

1. आर्थिक मामलों में रियासतों को अधिक आज़ादी दी जाए।
2. मध्य और संयुक्त प्रांत की लेजिस्लेटिव असेम्बली के 80 प्रतिशत सदस्य निर्वाचन के ज़रिय चुने जाए।
3. सेंट्रल और प्रोवेंशियल एक्सक्यूटिव वॉडी के कम से कम आधे सदस्य लेजिस्लेटिव असेम्बली से चुनकर आए।
4. सेना और विदेशी मामलों को छोड़कर लेजिस्लेटिव कौंसिल का समस्त विभागों पर कंट्रोल हो।
5. भारत को 'डोमिनियन स्टेटस' मिले।

कांग्रेस और मुस्लिम लीग के अधिकांश नेता इस समझौते से खुश थे। लेकिन मदन मोहन मालविया जैसे कुछ नेताओं ने इसका विरोध किया। उन्हें ऐसा विश्वास था कि इसमें हिंदुओं ने मुसलमानों को बहुत कुछ दे दिया है। विपिन चन्द्र का तो यहां तक कहना था कि मुसलमानों के लिए पृथक मतदान की व्यवस्था एक बहुत ही विवादास्पद फैसला है। वैसे इस समझौते के जरिये इतना तो तय है कि अल्पसंख्यकों के भय को दूर करने की ईमानदारी से कोशिश की गयी थी।

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट 1919 या भारत सरकार अधिनियम 1919

20 अगस्त, 1917 को भारत-मंत्री मोंटग्यू ने हाउस आफ कामन्स में यह उद्घोषणा की भारत में ब्रिटेन की नीति अब धीरे-धीरे स्वशासित आधारों को विकसित करना होगी क्योंकि ब्रिटेन चाहता है कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बनकर उत्तरदायी सरकार का प्रतिकार करे। यह ब्रिटिश नीति में एक बदलाव था—मोंटग्यू ने चेम्सफोर्ड के साथ मिलकर सुधारों पर चर्चा की जो उस समय भारत के वाइसराय थे। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने जो एक्ट प्रस्तुत किया वह गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट या भारत सरकार अधिनियम 1919 कहलाया।

प्रस्तावना

1. ब्रिटिश सरकार का प्रमुख उद्देश्य है भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना।
2. भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अभिन्न अंग रहे।
3. स्वशासन तथा भारतीयों की भागीदारी को प्रशासन में सुनिश्चित करना।

4. ब्रिटिश पार्लियामेंट इस बात पर निर्णय लेगी की किस प्रकार भारत में तथा कब स्वशासन की स्थापना की जाये।

व्यवस्थाएं/धाराएं

ग्रह सरकार

- भारत मंत्री अब ब्रिटिश सरकार का मानदेय रहेगा उसका भारत के कर से मुक्त किया जायेगा।
- राजदूतों की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा होगी तथा उसका मानदेय भारत सरकार वहन करेगी इसके अलावा राजदूत को अब स्टोर तथा विद्यार्थी विभाग के कार्य करने होंगे जो पहले भारत मंत्री के अधीन थे।

भारत मंत्री की कुछ शक्तियां कम हुई खासकर प्रांतीय मसलों में जैसे स्थानांतरित विषयों से परंतु केंद्रीय सरकार में उसकी शक्ति पहली जैसे ही रही।

भारत सरकार

कार्यपालिका

1. गवर्नर जनरल की कौंसिल में कुल आठ सदस्यों में से अब तीन सदस्य भारत के होंगे।
2. केंद्रीय तथा प्रांतीय लिस्टों की व्यवस्था की गई।

केंद्रीय लिस्ट - इस सबमें वह विषय रखे गए जो राष्ट्रीय महत्व के थे तथा एक से अधिक प्रांतों से संबंधित थे—जैसे राजनीतिक मामले, वैदेशिक तथा रक्षा मामले, सरकारी कर्ज, संचार, सिविल तथा क्रिमिनल कानून इत्यादि।

प्रांतीय लिस्ट – जो विषय स्थानीय महत्व के थे जैसे—शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि कानून व्यवस्था, अकाल कानून इत्यादि इस लिस्ट में शामिल थे इसके साथ-साथ जो हस्तांतरित विषय थे उन्हें केंद्रीय लिस्ट में शामिल कर लिया जाता था।

विधायिका इस एक्ट ने केंद्र में दो सदनों की व्यवस्था की यह दो सदन थे—

- कौंसिल आफ स्टेट्स
- सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली

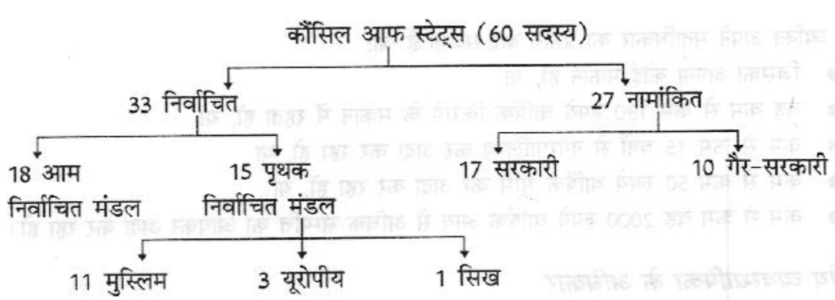

प्रमुख विशेषतायें

- हर सदस्य का कार्यकाल 5 वर्ष का था।
- अध्यक्ष का नामांकन वाईसराय द्वारा किया जाना था।
- सभी सदस्यों को 'ओनरेबल' कहा गया।

- स्त्रियों को सदस्य बनाने के अधिकार नहीं दिए गये।
- गवर्नर सभा को संबोधित, बुला, स्थगित तथा समाप्त भी कर सकते थे।
- जो व्यक्ति 10000 वार्षिक आय पर टैक्स अदा करना ही या 750 रुपये भूमिकर अदा करता हो वही व्यक्ति वोट देने का अधिकारी था या जो व्यक्ति विश्वविद्यालय की सीनेट में रहा हो या उसे भारत की विधानमंडलों में अनुभव या कोई सरकारी पदवी से शिक्षित ही वही व्यक्ति वोट डालने का अधिकार प्राप्त कर सकता था इसलिये यह तो साफ था कि इन शर्तों के चलते केवल आबादी का बहुत छोटा हिस्सा ही वोट डालने का अधिकार रखता था इसलिये 1920 तक केवल 17364 व्यक्ति ही 24 करोड़ भारतीयों में से वोट के अधिकार का प्रयोग कर सकते थे।

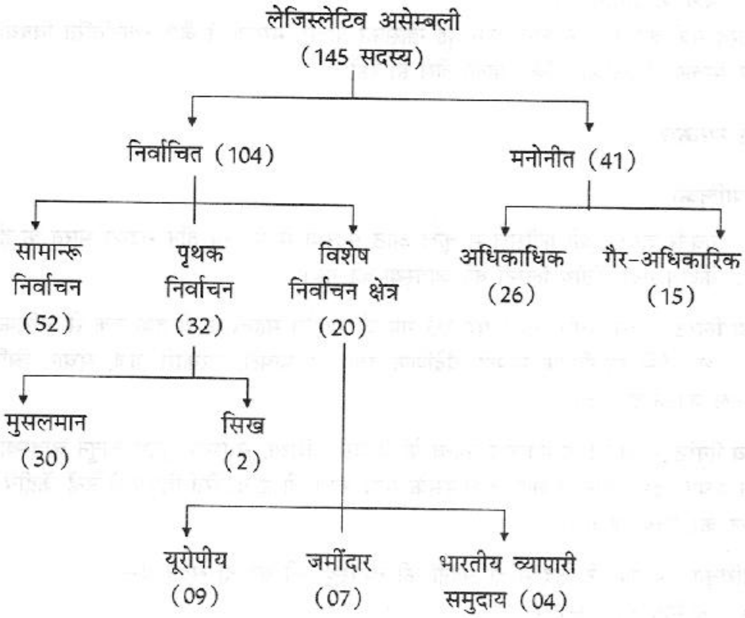

मताधिकार

वही व्यक्ति अपने मताधिकार का प्रयोग कर सकता है जो:

- जिसका अपना कोई मकान हो, या
- वह कम से कम 180 रुपये वार्षिक किराये के मकान में रहता हो, या
- कम से कम 15 वर्षों से नगरपालिका कर अदा कर रहा हो, या
- कम से कम 50 रुपये वार्षिक भूमि कर अदा कर रहा हो, या
- कम से कम वह 2000 रुपये वार्षिक आय से अधिक सम्पत्ति का आयकर अदा कर रहा हो।

केंद्रीय व्यवस्थापिका के अधिकार

1. यह संपूर्ण ब्रिटिश इंडिया के लिए नियम बना सकता था, चाहे वह आय भारतीय नागरिकों के लिए हो या सरकारी नौकरी करने वालों के सिलसिले में हों।
2. यह देश में लागू किसी भी कानून में संशोधन कर सकता था या नया कानून बना सकता था।
3. सदस्यों को जन-महत्व के किसी भी प्रश्न को पूछने का अधिकार था। उन्हें बोलने की स्वतंत्रता और अधिकार भी प्राप्त थे।

4. कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों, जैसे—कानून में संशोधन करना हो, या विदेश से संबंध बनाना हो, या भारतीय रियासतों से रिशतों का मामला हो, या रक्षा या धर्म संबंधी मामला हो, सदन में प्रसताव लाने से पहले गवर्नर जनरल से पूर्व अनुमति लेना आवश्यक था।
5. विधान सभा से पारित कोई भी प्रस्ताव उसी वक्त कानून का रूप लेता था जब गवर्नर-जनरल उसकी अनुमति प्रदान कर देता था। वह किसी बिल की घोषणा करने का अधिकार भी रखता था, लेकिन उसकी अवधि 6 महीने तक रहती थी।
6. कुछ चीज़ों के बजट के लिए सदन में मतदान होता था, कुछ के सिलसिले में खुला विचार विमर्श होता था। लेकिन कुछ ऐसे मामले भी थे जिस पर विचार-विमर्श भी वर्जित था।

विधायक कार्यकारणी के खिलाफ़ अविश्वास प्रस्ताव नहीं ला सकता था, लेकिन कार्यकारणी को विधयाकों के इच्छाओं का ख़्याल रखना पड़ता था। सदन के कुछ सदस्यों को लोक वित्त एवं व्यय समिति में शामिल कर लिया जाता था। जहां उन्हें सरकारी नीतियों पर प्रभार डालने का अवसर मिल जाता था।

इस तरह यह तो कहा ही जा सकता है कि अधिनियम-1919 में कुछ ज़िम्मेदारिया अवश्य दी गयी थीं, जिससे केंद्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना न हो सकी हो।

प्रांतीय सरकारें

द्विस्तरीय शासन व्यवस्था

रियासतों में द्विस्तरीय शासन के लिए एक विधेयक पारित किया गया। इस व्यवस्था में विषयों को दो स्तर में विभाजित कर लिया गया।

(अ) आरक्षित विषय

(ब) स्थानान्तरित विषय

आरक्षित विषयः गवर्नर का ही शासन चलेगा और कार्यकारणी समिति के सदस्यों को गवर्नर ही मनोनीत करेगा।

स्थानान्तरित विषयः गवर्नर कार्यकारणी के मनोनीत सदस्यों के परामर्श से ही शासन चलायेगा। ये मनोनीत सहस्य भी उन्हीं निर्वाचित सदस्यों में से होंगे।

आलोचनाएं

सभी महत्वपूर्ण विभाग गवर्नर और उसके कार्यकारणी समिति को दे दिए गये। जैसे—वित्त मंत्रालय, भू-राजस्व, न्याय, आपात काल की स्थिति, में राहत-कार्य, पेंशन, खाद्यान, सिचाई, और बांध आपाराधिक प्रवत्ति, कल-कारखानें, गैस, बिजली, मजदूरी, जन कल्याण, औद्योगिक विवाद, लोक सेवायें और मोटर-ट्रांसपोर्ट आदि। कम महत्व वाले विभागों को ही संबंधित मंत्रियों के हवाले किया गया, जो वे गवर्नर की सलाह पर काम किया करता था। वे विषय थे : शिक्षा, संग्रहालय, पुस्तकालय, क्षेत्रीय प्रशासन, चिकित्सा राहत, जन-स्वास्थ्य, कृषि, कोपरेटिव सोसाइटी, मछली-पालन उद्योग, पब्लिक वर्क्स, उत्पाद कर, पशुपालन विभाग, उद्योग धंधे, तोल और उसका माप, मनोरंजन, धर्म, और ख़ैराती दान आदि।

गवर्नर सभी मंत्रियों से अलग-अलग विचार विमर्श किया करता था। संयुक्त सभा का कोई प्रावधान नहीं था। हां, ऐसे मामले जिन से सभी को वास्ता पड़ता था, उसके लिए मंत्रियों एवं कार्यकारणी के सदस्यों के बीच परामर्श हुआ करता था।

प्रांतीय यवस्थापिका परिषद

इस अधिनियम से प्रांतीय व्यवस्थापिका परिषद का आकार बड़ा हो गया। रियासतों में सदस्यों की कुल संख्या भी अलग-अलग निर्धारित की गयी। कम से कम 70 प्रतिशत सदस्यों का निर्वाचन होता था।

20 प्रतिशत से अधिक सदस्य अधिकारियों में से ही नहीं हो सकते थे। शेष सदस्यों को मनोनीत किया जाता था नीचे कुछ प्रांतों के आंकड़े दिये जा रहे है।

तालिका 6.1

प्रांत	निर्वाचित सदस्यों की संख्या	अधिकारी	मनोनीत सदस्य	कुल
बंगाल	114	16	10	140
मद्रास	98	11	23	132
संयुक्त प्रांत	100	17	6	123
बंबई	86	19	9	114
बिहार एवं उड़ीसा	76	15	12	103
पंजाब	71	15	8	94
मध्य प्रांत	55	10	8	73
असम	39	7	7	53
उ.प. सीमांत प्रांत	39	7	7	53

लेजिस्लेटिव कौंसिल के अधिकार एवं कर्तव्य लगभग वही थे जो सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली के पास थे। हालांकि मत देने का अधिकार धन-सम्पत्ति आदि पर निर्भर था लेकिन यह अपेक्षाकृत आसान था। इससे राजनीतिक आधार में व्यापकता आयी।

एक्ट-1919 ने राष्ट्रीय नेताओं को तीन मुद्दे प्रदान कर दिये जिससे वे सरकार को घेर सकें। वे थे:

1. उत्तरदायी सरकार की अनुपस्थिति।
2. द्वि-स्तरीय शासन व्यवस्था की शुरुआत।
3. पृथक प्रतिनिधित्व व्यवस्था का विस्तार और उसका स्थायित्व।

साइमन आयोग

8 नवंबर, 1927 को ब्रिटिश सरकार ने एक आयोग का गठन किया जिसके सभी सदस्य गोरे (अंग्रेज) थे। उस आयोग को यह सुनिश्चित करना था कि क्या भारत संवैधानिक स्तर पर विकसित होने के लिए तैयार है और उसे किस दिशा में विकसित होना चाहिए। वह आयोग इंडियन स्टेच्यूटोरी आयोग के नाम से मशहूर हुआ। आयोग के चेयरमैन के नाम पर उसे 'साइमन कमीशन' भी कहा जाता है। इस कमीशन को एक्ट-1919 का जायज़ा लेना था, क्योंकि अब केवल 2 वर्ष शेष बचे थे, तथा कन्ज़रवेटिव पार्टी यह नहीं चाहती थी कि आने वाली सरकार आयोग का गठन करे जो (संभवत:) लेबर पार्टी की सरकार होगी।

लगभग सभी राजनितिक दलों ने साइमन आयोग का बहिष्कार किया। 3 फरवरी, 1928 को जब वे भारत पहुंचे तो देश के सभी बड़े शहरों एवं कस्बों में पूरी तरह बंद का आह्वान किया गया। लोग काले झंडे लिए हुए गलियों में निकल आए। उन्होंने अपने हाथों में बैनर उठा रखे थे जिन पर लिखा था—

"Simon go back"

''साइमन, वापस जाओ''